प्रतिक्रांति: एक पुनरावलोकन

प्रेम सिंह

(नीचे दी गईं दो टिप्पणियां फरवरी और मई 2015 में हस्तक्षेपडॉटकॉम पर प्रकाशित हुई थीं। तब तक देश प्रतिक्रांति के दोनों चेहरों - केजरीवाल-क्रांति और मोदी-क्रांति - के दर्शन कर चुका था। देश की जनता को यह दर्शन करने का 'सौभाग्य' देश के प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों के सौजन्य से प्राप्त हुआ था। तब से गंगा और यमुना में बहुत पानी बह चुका है। (हालांकि, निगम भारत में देश की नदियों में पानी बहता कम, सड़ता ज्यादा है; और नदियां पाप धोने से ज्यादा चुनाव जीतने के काम आती हैं।) अभी-अभी सम्पन्न हुए दिल्ली विधानसभा चुनावों (2025) में प्रतिक्रांति के बड़े चेहरे ने प्रतिक्रांति के छोटे चेहरे को शिकस्त दी है। वैकल्पिक राजनीति के गुनाहगार प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी इस अचानक लगे सेटबैक से परेशान हैं, और उसके विश्लेषण में जुटे हैं। लोगों से ज्यादा खुद को समझा रहे हैं कि वे सही थे, सही हैं, और सही रहेंगे। देश कि राजनीति में धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र को बचाने का संघर्ष इसी तरह चलता है, और चलेगा। इस पूरी राजनीतिक परिघटना पर कुछ दिन बाद हम भी अपना पक्ष रखने कि कोशिश करेंगे। तब तक ये दो टिप्पणियां नए पाठकों के लिए जारी कर रहा हूं। - प्रेम सिंह)

प्रतिक्रांति के हमसफर

''इस वक्त समूची दुनिया में जो हो रहा है, वह शायद विश्व इतिहास की सबसे बड़ी प्रतिक्रांति है। यह संगठित है, विश्वव्यापी है और समाज तथा जीवन के हर पहलू को बदल देने वाली है। यहां तक कि प्रकृति और प्राणिजगत को प्रभावित करने वाली है। इक्कीसवीं सदी के बाद भी अगर मानव समाज और सभ्यता की चेतना बची रहेगी, तो आज के समय के बारे में इसी तरह का जिक्र इतिहास की पुस्तकों में होगा। डंकेल संधि की तारीख इस प्रतिक्रांति की शुरुआत की तारीख मानी जा सकती है।''

x x x

''प्रतिक्रांति का मतलब पतन या क्षय नहीं है। पतन या क्षय वहां होता है, जहां परिपक्वता आ चुकी है या चोटी तक पहुंचा जा चुका है। सोवियत रूस का पतन हो गया; या हम कह सकते हैं कि आधुनिक सभ्यता का क्षय एक अरसे से शुरू हो गया है। इससे भिन्न प्रतिक्रांति का रूप क्रांति जैसा ही होता है, सिर्फ उसका उद्देश्य उलटा होता है। यह भी संगठित होता है और एक विचारधारा से लैस रहता है और कई मूल्यों और आधारों को उखाड़ फेंकने का काम करता है। इसकी विचारधारा ही ऐसी होती है कि इसका आंदोलन अति संगठित छोटे समूहों के द्वारा चलाया गया अभियान होता है।'' ('विकल्पहीन नहीं है दुनिया', किशन पटनायक, राजकमल प्रकाशन, पृ. 172)

किशन जी का यह कथन फरवरी 1994 का है। तब से दुनिया और भारत में प्रतिक्रांति का पथ उत्तरोत्तर प्रशस्त होता गया है। राजनीति में पिछले तीन-चार सालों में बनी नरेंद्र मोदी और अरविंद केजरीवाल की केंद्रीयता से प्रतिक्रांति की विचारधारा काफी मजबूत स्थिति में पहुंच गई है। गौरतलब है कि दोनों ने लगभग समान प्रचार-शैली अपनाकर यह हैसियत हासिल की है, जिसमें मीडिया और धन की अकूत ताकत झोंकी गई है। बहुत-से मार्क्सवादियों, समाजवादियों, सामाजिक न्यायवादियों, गांधीवादियों और बुद्धिजीवियों ने अरविंद केजरीवाल का साथ देकर या दिल्ली विधानसभा चुनाव में बिना मांगे समर्थन करके इस प्रतिक्रांति को राजनीतिक स्वीकार्यता प्रदान कर दी है। दिल्ली में आम आदमी पार्टी (आप) की सरकार बनती है या भाजपा की, इससे इस सच्चाई पर फर्क पड़ने नहीं जा रहा है कि भारत की मुख्यधारा राजनीति में प्रतिक्रांति का सच्चा प्रतिपक्ष नहीं बचा है।

केजरीवाल की राजनीति के समर्थक खुद को यह तसल्ली और दूसरों को यह वास्ता देते रहे हैं कि जल्दी ही केजरीवाल को (अपने पक्ष में) ढब कर लिया जाएगा। हुआ उल्टा है। केजरीवाल ने सबको (अपने पक्ष में) ढब कर लिया है। सुना है किरण बेदी के 'छोटे गांधी' कामरेडों के लेनिन हैं! प्रकाश करात ने कहा बताते हैं कि केजरीवाल का विरोध करने वाले मार्क्स को नहीं समझते हैं। प्रतिक्रांति इस कदर सिर चढ़ कर बोल रही है कि मार्क्स को भी उसके समर्थन में घसीट लिया गया है। यह परिघटना भारत की प्रगतिशील राजनीति की थकान और विभ्रम को दर्शाती है।

ऊपर दिए गए किशन जी के दो अनुच्छेदों के बीच का अनुच्छेद इस प्रकार है: ''**समूची बीसवीं सदी में क्रांति की चर्चा होती रही। क्रांति का एक विशिष्ट अर्थ आम जनता तक पहुंच गया था; क्रांति का मतलब संगठित आंदोलन द्वारा उग्र परिवर्तन, जिससे समाज आगे बढ़ेगा और साधारण आदमी का जीवन बेहतर होगा; आखिरी आदमी को नजरअंदाज नहीं किया जाएगा। साधारण आदमी का केंद्रीय महत्व और आखिरी आदमी का अधिकार बीसवीं सदी की राजनीति और अर्थनीति पर जितना हावी हुआ, वैसा कभी नहीं हुआ था।**''

यह लिखते वक्त किशन जी को अंदेशा भी नहीं रहा होगा कि एनजीओ सरगनाओं का गिरोह करोड़पतियों को भी आम आदमी बना देगा; उनकी समृद्धी बढ़ाने के लिए गरीबों का वोट खींच लेगा; और समाजवादी क्रांति का दावा करने वाले नेता व बुद्धिजीवी उसके समर्थन में सन्नद्ध हो जाएंगे! किशन जी ने अपने उसी लेख में यह कहा है कि "**1980 के दशक में हिंदुत्व के आवरण में एक प्रतिक्रांति का अध्याय शुरू हुआ है देश की राजनैतिक संस्कृति को बदलने के लिए। इस वक्त विश्व-स्तर पर जो प्रतिक्रांति की लहर प्रवाहित है, उससे इसका मेल है; ... ।**" हम जानते हैं पूंजीवादी प्रतिक्रांति के पेटे में चलने वाली सांप्रदायिक प्रतिक्रांति के तहत 1992 में बाबरी मस्जिद का ध्वंस कर दिया गया।

किशन जी ने डंकेल समझौते के साथ शुरू होने वाली प्रतिक्रांति के मुकाबले में वैकल्पिक राजनीति की विचारधारा और संघर्ष खड़ा किया था। साथ ही उन्होंने विस्तार से धर्मनिरपेक्षता का घोषणापत्र लिखा। उनके साथ शामिल रहे ज्यादातर लोग आज प्रतिक्रांति के साथ हैं। जाहिर है, वे किशन जी के जीवन-काल में उन्हें धोखा देते रहे और उनके बाद उनके जीवन भर के राजनीतिक उद्यम को नष्ट करने में लगे हैं।

ऐसे में ज्यादा कुछ कहने-सुनने को नहीं बचा है; कुछ बिंदु अलबत्ता देखे जा सकते हैं:

(1) मोदी का तिलस्म, जिसे तोड़ने के लिए केजरीवाल को अनालोचित समर्थन दिया गया है, वास्तव में कारपोरेट पूंजीवाद का तिलस्म है। मार्क्सवादियों, समाजवादियों, सामाजिक न्यायवादियों, गांधीवादियों और बुद्धिजीवियों ने केजरीवाल का समर्थन करके उस तिलस्म को दीर्घजीवी बना दिया है।

(2) केजरीवाल की जीत में धर्मनिरपेक्षता की जीत नहीं है, जैसा कि अति वामपंथियों से लेकर तरह-तरह के राजनीतिक निरक्षर जता रहे हैं। मुसलमानों के भय की भित्ति पर जमाई गई धर्मनिरपेक्षता न जाने कितनी बार भहरा कर गिर चुकी है। भारत की धर्मनिरपेक्षता मोदी की जीत के पहले कई बार हार का मुंह देख चुकी है। भारत का विभाजन, गांधी की हत्या, आजादी के बाद अनेक दंगे, 1984 में सिख नागरिकों का कत्लेआम, 1992 में बाबरी मस्जिद का ध्वंस, 2002 का गुजरात कांड - धर्मनिरपेक्षता की हार के अमिट निशान हैं।

(3) धर्मनिरपेक्षता के दावेदार यह सब जानते हैं। लिहाजा, केजरीवाल के समर्थन के पीछे के मनोविज्ञान को समझने की जरूरत है। इनमें से बहुत-से लोग मोदी के हाथों मिली करारी शिकस्त को पचा नहीं पाए हैं। उनका दृढ़ विश्वास था कि मोदी जैसा शख्स भारत का प्रधानमंत्री नहीं बन सकता। उनका विश्वास टूटा है। खीज मिटाने के लिए वे किसी को भी मोदी को हराता देखना चाहते हैं।

केजरीवाल को उनके समर्थन का दूसरा अंतर्निहित कारण घृणा की राजनीति से जुड़ा है। सर्वविदित है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) घृणा की राजनीति करता है। धर्मनिरपेक्षतावादियों में भी संघियों के प्रति तुच्छता से लेकर घृणा तक का भाव भरा रहता है। केजरीवाल की जीत से उनके इस भाव की तुष्टी होती है। तीसरा कारण सरकारी पद-प्रतिष्ठा से जुड़ा है। धर्मनिरपेक्षतावादियों को कांग्रेसी राज में सत्ता की मलाई खाने का चस्का लगा हुआ है। उन्हें पता है कांग्रेस दिल्ली में सत्ता में नहीं आने जा रही है। सीधे भाजपा का न्यौता खाने में उन्हें लाज आती है। दिल्ली राज्य में केजरीवाल की सत्ता होने से विभिन्न निकायों/समितियों में शामिल होने में उन्हें लाज का अनुभव नहीं होगा। हालांकि वे एक भूल करते हैं कि एनजीओ वाले राजनीति में आए हैं तो उनके अपने साथी-सगोती निकायों/समितियों में आएंगे। लिहाजा, धर्मनिरपेक्षतावादियों के लिए यहां कांग्रेस जैसी खुली दावत नहीं होने जा रही है। मोदी को हराने के नाम पर किए गए समर्थन को वे प्रतिक्रांति के समर्थन तक खींच कर लाएंगे। देखना होगा तब साथी क्या पैंतरा लेते हैं?

(4) केजरीवाल को वोट देने वाले दिल्ली के गरीबों से कोई शिकायत नहीं की जा सकती। मीडिया और बुद्धिजीवियों ने आप के आर्थिक और गरीब विरोधी विचारधारात्मक स्रोतों की जानकारी उन तक पहुंचने ही नहीं दी। इस मेहनतकश-वर्ग को जल्दी ही पता चलेगा कि उनका इस्तेमाल उन्हीं के खिलाफ किया गया है। हालांकि केजरीवाल के दीवाने 'आदर्शवादी' नौजवानों को वैसा नादान नहीं कहा जा सकता। प्रतिभावान कहे जाने वाले इन नौजवानों ने प्रतिक्रांति के पदाति की भूमिका बखूबी निभाई है।

(5) दलित पूंजीवाद के पैरोकार देख लें, शूद्रों समेत ज्यादातर सवर्ण नेता, प्रशासक, विचारक, एनआरआई पूंजीवादी प्रतिक्रांति के साथ जुट गए हैं। पूंजीवाद की दौड़ में बराबरी का मुकाम कभी नहीं आता।

(6) उस अदृश्य एजेंसी का लोहा मानना पड़ेगा जिसने केजरीवाल का यह चुनाव अभियान तैयार किया और चलाया। "जनता का सीएम" कैसे बनता है, यह उस एजेंसी ने बखूबी करके दिखाया है। वह "जनता का प्रधान सेवक" बनाने वाली एजेंसी की टक्कर की ठहरती है।

अंत में सबक। नई आर्थिक नीतियों के साथ शुरू होने वाली प्रतिक्रांति का लगातार प्रतिरोध हुआ है। अब, जबकि सारे भ्रम हट गए हैं, क्रांति का संघर्ष निर्णायक जीत की दिशा में तेज होना चाहिए।

वैकल्पिक राजनीति के गुनाहगार

वैश्वीकरण-उदारीकरण-निजीकरण के दौर में भारत में मुकम्मल राजनीतिक दर्शन - राजनीति का ऐसा चिंतन जो इस परिघटना के मद्देनजर स्वावलंबी समतामूलक अर्थव्यवस्था और सेकुलर लोकतंत्र के पक्ष में वंचित आबादी की जमीन से किया गया हो - की रचना का काम अवरुद्ध है। नवउदारवाद पूरी ताकत से ऐसा राजनीतिक चिंतन फलीभूत नहीं होने देने में काफी हद तक सफल रहा है। कतिपय सक्रिय राजनीतिक कार्यकताओं व बुद्धिजीवियों द्वारा नवउदारवाद के बरक्स राजनीतिक चिंतन के जो फुटकर प्रयास हुए हैं, राजनीतिक विमर्श में उसकी जगह नहीं बन पाती है। इसका स्वाभाविक नतीजा है कि भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में उत्तरोत्तर नवउदारवादी शिकंजा कसा जा चुका है। हमारे दौर के महत्वपूर्ण राजनीतिक चिंतक किशन पटनायक ने विकल्पहीनता की इस स्थिति में 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' का दावा पेश किया था। उनके इस सर्वथा सार्थक और प्रासंगिक प्रयास का नवउदारवादी सत्ता-प्रतिष्ठान द्वारा विरोध स्वाभाविक था। लेकिन अपने को जनांदोलनकारी और समाजवादी-गांधीवादी कहने वाले कतिपय निहित स्वार्थी तत्वों ने भी उनके विचार को आगे बढ़ने से रोका।

ऐसी चुनौतीपूर्ण स्थिति में स्वतंत्रता आंदोलन और उसके बाद के पूंजीवादी साम्राज्यवाद विरोधी चिंतन व संघर्ष की विरासत का सहारा लिया जा सकता है, बल्कि लिया ही जाना चाहिए। लेकिन उस विरासत को नवउदारवादी शासक-वर्ग, जिसमें प्रच्छन्न नवउदारवादियों का बड़ा हुजूम शामिल है, विकृत करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहा है। इस हुजूम में ज्यादातर नागरिक समाज एक्टिविस्ट और बुद्धिजीवी शामिल हैं। रही-सही कसर वह झगड़ा पूरी कर रहा है जो इस विरासत के पुरोधाओं को लेकर खड़ा किया जाता है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक दर्शन की यह विशेषता रही है कि उसकी रचना ज्यादातर सक्रिय राजनीतिक हस्तियों द्वारा हुई है। उपनिवेशवाद के बरक्स भारतीय मनीषा की जीवंत चिंताओं और तनावों से आधुनिक भारत का राजनीतिक चिंतन पैदा हुआ है। साहित्य, कलाएं और विद्वता (स्कालरशिप) इस राजनीतिक दर्शन से प्रेरित और कई बार उसके पूरक रहे हैं। यह सही है कि नवउदारवादी दौर में भी भारतीय भाषाओं में अच्छा साहित्य रचा गया है। विशेषकर अंग्रेजी में मानविकी व समाजशास्त्र के विषयों में गंभीर विद्वतापूर्ण लेखन हुआ है। लेकिन नवउदारवाद के बरक्स एक समुचित राजनीतिक दर्शन के

अभाव में ज्यादातर साहित्यकार और विद्वान नवउदारवादी तंत्र में कोआप्ट हो जाते हैं, या कर लिए जाते हैं। कहा जा सकता है कि अगर राजनीतिक दृष्टि - विज़न - नहीं है तो साहित्य और विद्वता भी दृष्टि - विज़न - से रहित रह जाते हैं।

यह अकारण नहीं कि भ्रष्टाचार विरोध के नाम पर खड़े किए गए तथाकथित आंदोलन और 'उसकी राख' से खड़ी की गई तथाकथित राजनीतिक पार्टी की वकालत कई बड़े लेखक और विद्वान करते हुए पाए गए। विदेशी फंडिंग पर पलने वाला एक गुट नवउदारवादी-सांप्रदायिक गठजोड़ की मजबूती बनाते हुए राजनीतिक सत्ता हथियाने की तिकड़म करता है और भारत का बुद्धिजीवी-वर्ग उसके समर्थन में सन्नद्ध हो जाता है। वे देख नहीं पाते कि राजा को नंगा बताने वाले खुद कौन-सी पोशाक पहने हैं!

मनमोहन सिंह के नेतृत्व में नवउदारीकरण के पक्ष में एक 'चुप्पा युग' चल रहा था। मनमोहन सिंह खुद तो चुपचाप अपना काम करते ही थे; वैश्वीकरण के समर्थक बुद्धिजीवी भी ज्यादा बढ़-चढ़ कर दावे नहीं करते थे। उनका असल काम नवउदारीकरण के दुष्प्रभावों से बदहाल विशाल आबादी की आवाज को बार-बार यह कहते हुए चुप कराना था कि देश में नवउदारीकरण के पक्ष में आम सहमति बन चुकी है। यह बहुत अच्छा है, क्योंकि और कोई विकल्प नहीं है। मनमोहन सिंह के 'ज्ञान आयोग' में शामिल विद्वान और सोनिया गांधी की 'राष्टीय सलाहकार परिषद' में शामिल नागरिक समाज एक्टिविस्टों ने नवउदारीकरण को सर्वस्वीकार्य बनाने का काम किया।

अचानक इंडिया अगेंस्ट करप्शन, भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन, आम आदमी पार्टी के साथ बड़ी संख्या में नागरिक समाज एक्टिविस्टों, बुद्धिजीवियों, एनजीओ सरगनाओं, बाबाओं ने एकजुट होकर भारतीय राजनीतिक विमर्श को एक झटके में 'चुप्पा युग' से 'लबार युग' में पहुंचा दिया। कारपोरेट घरानों और एनआरआई ने तन-मन-धन से भ्रष्टाचार मिटाने के नाम पर किए उस 'महान आंदोलन' का भरपूर समर्थन किया। जम कर भाषणबाजी हुई। भाषा और वाणी का अवमूल्यन निम्नतम स्तर तक पहुंच गया। हालत यह हो गई कि प्रायः पूरा नागरिक समाज जहां-तहां जुबान साफ करने के लिए उतावला हो उठा। दिल्ली का जंतर-मंतर और रामलीला मैदान इसके लिए प्रमुख अड्डे बन गए। मुख्यधारा मीडिया के साथ सोशल मीडिया और लघु पत्रिकाओं - साहित्यिक पत्रिकाओं समेत - के संपादक/लेखक भी पीछे नहीं रहे। यह सब आरएसएस के इंतजाम में हुआ। जाहिर है, अंदरखाने ये सभी नवउदारवाद के लाभार्थी, लिहाजा समर्थक थे। वरना पिछले दो दशकों में बनी नवउदारवाद विरोधी ताकत को एनजीओबाजों के गुट द्वारा सांप्रदायिक ताकतों के साथ मिल कर तोड़ा नहीं जा सकता था।

देखते ही देखते भारत का राजनीतिक विमर्श एक ऐसा खुला बाजार बन गया कि बाबा रामदेव जैसे वाचाल धर्म के धंधेबाज का यह हौसला हो गया कि वह कामरेड एबी बर्द्धन के पास अपने 'उच्च विचार' लेकर जा पहुंचा; बर्द्धन समेत कितने ही समाजवाद के पक्षधर नेताओं और विचारकों ने जंतर-मंतर और रामलीला मैदान में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। बाजारवाद के हमाम से निकले 'आम आदमी' ने गांधीजनों और जनवादियों को एक साथ मोहित कर लिया। इस तरह, कह सकते हैं, राजनीतिक चिंतन की चिंताजनक कमी की क्षतिपूर्ति वाणी-विलास से पूरी की गई। वाणी-विलास के साथ कल्पना-विलास इस

कदर 'उदात्त' हो गया कि बाजारवाद के खिलाड़ियों में एक साथ गांधी, जेपी और लेनिन की छवियां देख ली गईं!

इस हल्ले में सत्याग्रह, स्वराज, वैकल्पिक राजनीति जैसे पदों/अवधारणाओं को धड़ल्ले से अवमूल्यित और विकृत किया गया। क्रांति तो जैसे ब्रज की गोपियों का दधि-माखन हो गया, जिसे कान्हा ग्वाल-बालों के साथ लूट-लूट कर खाते थे। राजनीतिक विमर्श की दुनिया से तथ्य और तर्क का जैसे दाना-पानी उठ गया। आश्चर्य की बात नहीं है कि लबारपंती के महोत्सव में गांधी, भगत सिंह, पटेल, जेपी, लोहिया, अंबेडकर आदि चिंतकों का इस हद तक अवमूल्यन कर डाला गया कि भविष्य में शायद ही उनके वास्तविक स्वरूप को प्रतिष्ठित किया जा सके। भारत के भविष्यद्रष्टा चिंतकों/नेताओं को भारत का भविष्य कारपोरेट पूंजीवाद में देखने वाले चिंतकों/नेताओं में घटित करने का यह सिलसिला जारी है।

भाषा और वाणी के मर्यादाहीन इस्तेमाल से मुख्यधारा और सोशल मीडिया की मार्फत पूरे देश में जो माहौल बना, उसी पर सवार होकर टीम नरेंद्र मोदी ने आमचुनाव फतह कर लिया। भारत के शासक-वर्ग ने एकजुट होकर यह सब किया, ताकि संकट में आया नवउदारवाद न केवल साफ बच कर निकल आए, मजबूत व दीर्घजीवी भी बन जाए।

सत्याग्रह और स्वराज आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन की पुरानी और प्रतिष्ठित अवधारणाएं हैं। आशा की जा सकती है कि इन्हें देर-सवेर फिर से प्रतिष्ठित किया जा सकेगा। लेकिन वैकल्पिक राजनीति की अवधारणा अपेक्षाकृत नई और निर्माणाधीन है। यह सबसे ज्यादा जरूरी और सार्थक भी है; क्योंकि इसकी उद्भावना नवउदारवाद के बरक्स हुई है। वैकल्पिक राजनीति नवउदारवाद का मुकम्मल विचारधारात्मक विकल्प प्रस्तुत करने का गंभीर प्रयास है। वैकल्पिक राजनीति के बजाय राजनीति के विकल्प का विचार भी बहस में रहा है। इस विचार के तहत माना जाता है कि शक्ति राजनीति के पास न रह कर समाज के पास रहे। इस विचार की एक उपधारा राजनीति के पूर्ण निषेध की है। दूसरी उपधारा में राजनीति की भूमिका स्वीकार की जाती है। पहली उपधारा राजनीति को एक बुराई मान कर चलती है, जबकि दूसरी उपधारा राजनीतिक दलों की उपस्थिति स्वीकार करते हुए प्रचलित राजनीति को नागरिक समाज के प्रतिरोध से सही पटरी पर चलाने की हामी है। यहां हम इस महत्वपूर्ण बहस - वैकल्पिक राजनीति या राजनीति का विकल्प - में नहीं जा रहे हैं।

वैकल्पिक अथवा विकल्प की राजनीति की विचारधारा के केंद्र में 21वीं सदी में समाजवाद के स्वरूप का चिंतन निहित है। इस चिंतन के सूत्र टेक्नोलोजी, प्राकृतिक संसाधन, विकास, पर्यावरण, विषमता, गरीबी, भुखमरी, विस्थापन, आत्महत्याएं, नरसंहार, परमाणु व जैव सहित बेशुमार विध्वंसक हथियार, नागरिक व मानवाधिकार, अस्मिता जैसे जीवंत सवालों में उलझे हैं। वैकल्पिक राजनीति की विचारधारा में केंद्रीकृत समृद्धि के लक्ष्य की जगह विकेंद्रित समतापूर्ण संपन्नता पर निर्णायक बलाघात है। इसमें आधुनिक औद्योगिक पूंजीवादी विकास के माडल का निर्णायक नकार है। इसीलिए वैकल्पिक राजनीति का चिंतन स्वाभाविक तौर पर गांधीवाद की तरफ जाता हैं। डॉ लोहिया से लेकर किशन पटनायक तक गांधीवाद की अपरिहार्यता पर बल दिया गया है। लोहिया, जिन्हें गांधी का विस्तार/क्रांतिकारी व्याख्याकार कहा जाता है,

ने पूंजीवाद और साम्यवाद से अलग समाजवाद की विचारधारा में गांधीवाद का फिल्टर लगाने की एक सुचिंतित विचारणा प्रस्तुत की है।

वैकल्पिक राजनीति की रचना की प्रेरणा के पीछे बाबरी मस्जिद के ध्वंस की घटना भी नवउदारवादी नीतियों के स्वीकार जैसी महत्वपूर्ण है। मस्जिद का ध्वंस एक राजनीतिक पार्टी और उसके शीर्षस्थ नेताओं द्वारा 'आंदोलन' चला कर किया गया। संवैधानिक संस्थाएं, धर्मनिरपेक्ष राजनीति, आजादी के संघर्ष की साझी विरासत, सहअस्तित्व व सहिष्णुता की भावना, धर्म की उदार धारा - कोई भी वह ध्वंस नहीं रोक पाया। लिहाजा, सेकुलर लोकतंत्र की प्रतिष्ठा वैकल्पिक राजनीति का अहम आयाम है।

नवउदारवाद के विकल्प की विचारधारा और उस पर आधारित राजनीति का निर्माण जल्दबाजी में संभव नहीं है। गांधी का एक कदम ही इस दिशा में काफी हो सकता है, बशर्ते वह उसी दिशा में उठाया जाए। वास्तविक नवउदारवाद विरोधियों में अगर सहमति और एका बनेगा तो राष्ट्रीय स्तर का आंदोलन उत्पन्न हो सकता है। तब मुख्यधारा राजनीति पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। और नवसाम्राज्यवादी गुलामी का जुआ उतार फेंका जा सकेगा।

वैकल्पिक राजनीति की इस संक्षिप्त प्रस्तावना के मद्देनजर देखा जा सकता है कि आम आदमी पार्टी (आप) को वैकल्पिक राजनीति की वाहक बताने वालों का दावा शुरू से ही खोखला है। वह हास्यास्पद भी है - क्योंकि आप सीधे नवउदारवाद की कोख से पैदा होने वाली पार्टी है। इस पार्टी में सस्ते सत्ता-स्वार्थ की खींचतान के चलते कुछ लोग फिर से वैकल्पिक राजनीति का वास्ता दे रहे हैं। यह पहले से चल रही लबारपंती का एक और विस्तार है। अचानक केजरीवाल को कौरव बताने वाले ये पांडव पहले ही वैकल्पिक राजनीति की विरासत को सत्ता की बिसात पर दांव पर लगा चुके हैं। यह एक लंबी कार्रवाई रही है। विदेशी फंडिंग से जनांदोलन और विचार का काम करने वाले कुछ लोगों ने लंबे समय से वैकल्पिक राजनीति की हत्या की सुपारी उठाई हुई थी। अन्ना, रामदेव, केजरीवाल की तिकड़ी ने मौका दिया और इन्होंने काम तमाम कर दिया।

ऐसे ही लोग किशन जी को वर्ल्ड सोशल फोरम के मुंबई जलसे में लेकर गए थे। किशन जी की यह निरंतर कोशिश रही कि वैश्वीकरण का विरोध करने वाले एनजीओकर्मियों का राजनीतिकरण हो। लिहाजा, एक बड़े आयोजन में संभावना तलाशने के उद्देश्य से उन्होंने वहां जाना स्वीकार किया थां। एनजीओकर्मियों द्वारा किए जाने वाले विभिन्न कार्यक्रमों में भी वे इसी मकसद से जाते थे। लेकिन एनजीओकर्मी किशन जी का पक्ष समझने और स्वीकार करने के बजाय किशन जी की उपस्थिति को अपने पक्ष की वैधता के लिए इस्तेमाल करते थे। क्योंकि ये 'सयाने' लोग अच्छी तरह जानते हैं कि किशन जी का पक्ष स्वीकार करते ही वास्तविक संघर्ष का जोखिम उठाना पड़ेगा। फंडिंग बंद हो जाएगी। ऐसे ही एक कार्यक्रम में किशन जी बीमार पड़े और चल बसे। कई सच्चे समाजवादी कार्यकर्ताओं ने तब भी कहा था और आज भी मानते हैं कि एनजीओ वालों ने किशन जी की वैकल्पिक राजनीति की हत्या करने की तो निरंतर कोशिश की ही, उनके शरीर की हत्या में भी उन्हीं का हाथ है। किशन जी की परंपरा

में वैकल्पिक राजनीतिक विचारधारा और राजनीतिक संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति साथी सुनील की बलि भी इसी रास्ते ले ली गई है!

हमने किशन जी और सुनील का हवाला इसलिए दिया है कि वैकल्पिक राजनीति और विदेशी फंडिंग पर पलने वाले एनजीओ का साझा मंच कभी नहीं बन सकता। यह हो सकता है, जो कि बहुत कम होता है, कि एनजीओकर्म छोड़ कर कोई व्यक्ति वैकल्पिक राजनीति के साथ आ जाए या, जो बहुत ज्यादा होता है, वैकल्पिक राजनीति करने वाला व्यक्ति एनजीओ में चला जाए। दोनों का साझा नहीं निभ सकता। बल्कि साझेदारी की कोशिश में एनजीओ पक्ष ही मजबूत होता जाता है।

सभी जानते हैं आप में विद्रोह का झंडा उठाने वाले लोग लोकसभा का चुनाव जीत जाते या इन्हें दिल्ली से राज्यसभा में भेज दिया जाता या पार्टी में अहम पद सौंप दिया जाता तो इनके लिए आप वैकल्पिक राजनीति की खरी पार्टी बनी रहती और केजरीवाल, जिसके डुबकी लगाने से गंगा का उद्धार हो गया बताया जात है, वैकल्पिक राजनीति का मसीहा बना रहता।

इन लोगों का कहना था कि आप को समाजवादी पार्टी बना लिया जाएगा। केजरीवाल को भी बना लेंगे; नहीं बनेगा तो पार्टी पर समाजवादियों के कब्जे के चलते उन्हें चलता कर दिया जाएगा। हो उल्टा गया है। अगर नीयत साफ होती तो जिन साथियों को आप को समाजवादी बनाने का वास्ता देकर सदस्य बनाया था, उन्हें यह कहते कि हमारी समझ और आकलन गलत था। हम यह पार्टी छोड़ते हैं और समाजवादी आंदोलन को मजबूत बनाने का काम करते हैं। जाहिर है, इनके लिए समाजवाद बहाना भर था, असली मकसद ज्यादा से ज्यादा समाजवादी साथियों को पार्टी में लाकर अपनी हैसियत मजबूत करना था। केजरीवाल के दरबार में अपनी ताकत बनाने के लिए इन्होंने कैप्टन अब्बास अली जैसे समाजवाद के जीवित आइकॉन का इस्तेमाल करके लोहियागीरी और नारायण देसाई जैसे गांधीवाद के जीवित आइकॉन का इस्तेमाल करके गांधीगीरी की चोरबाजारी कर डाली। इस पूरे पचड़े में सोपा-प्रसोपा-संसोपा अथवा किशन पटनायक का हवाला देना शरारतपूर्ण है।

इन लोगों ने केजरीवाल द्वारा इस्तेमाल करके फेंक दिए गए 'स्वराज' और अपनी तरफ से भरसक नष्ट कर दी गई वैकल्पिक राजनीति की धारा को इसलिए बहाना बनाया कि कुछ न कुछ सिलसिला चलता रहे। क्रांति अपने बच्चों की कड़ी परीक्षा लेती है। जान भी ले लेती है। यह भी देखा गया है कि कई बार वह खुद अपने बच्चों को खाना शुरू कर देती है। लेकिन प्रतिक्रांति की अपने बच्चों पर अपार ममता होती है। वह केजरीवाल के साथ इन लोगों को भी गोद में उठाए रखेगी।

(*समाजवादी आंदोलन से जुड़े लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व शिक्षक और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान के पूर्व फेलो हैं*)